गोत्रकर्मके विषयमें मेरा चिन्तन

८ अगस्त सन् १९५७ के जैनसंदेशमें श्रीब्रह्मचारी पं० रतनचंदजी सहारनपुर द्वारा परिचालित "शंका-समाधान" प्रकरणमें निम्न प्रकार शंका और उसका समाधान किया गया था।

" शंका१—नीच-उच्चगोत्र जन्मसे है या कर्मसे ? क्या बौद्धधर्ममें दीक्षित शूद्र ५० साल पश्चात् उच्चगोत्री न माने जायेंगे ? अव्रत रहते हुए भी क्या गोत्र बदल सकता है ?

समाधान—षट्खण्डागम पुस्तक १३, पृष्ठ ३८८ पर उच्चगोत्रके कार्यके विषयमें यह शंका उठाई गयी है कि उच्चगोत्रका कार्य राज्यादि संपदाकी प्राप्ति, महाव्रतों, अणुव्रतों तथा सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति, इक्ष्वाकु कुल आदिमें उत्पत्ति नहीं है क्योंकि इनसे अन्यत्र जीवमें भी उच्चगोत्रका उदय पाया जाता है। इसलिये उच्चगोत्र निष्फल है, उसमें कर्मपना भी घटित नहीं होता ?

इसका समाधान करते हुए श्री वीरसेन स्वामीने लिखा है (१) उच्चगोत्र न माननेसे जिन वचन (आगम) से विरोध आता है, (२) केवलज्ञानद्वारा विषय किये गये सभी अर्थोंमें छद्मस्थोंके ज्ञान प्रवृत्त भी नहीं होते हैं। यदि छद्मस्थोंको कोई अर्थ उपलब्ध नहीं होते हैं तो इससे जिनवचनोंको अप्रमाण नहीं कहा जा सकता। (३) गोत्रकर्म निष्फल है, यह बात भी नहीं है क्योंकि जिनका दीक्षायोग्य साधु आचार है, साधु आचार वालोंके साथ जिन्होंने संबन्ध स्थापित किया है तथा जो 'आर्य' इसप्रकारके ज्ञान और वचन व्यवहारके निमित्त हैं—उन पुरुषोंकी परम्पराको उच्चगोत्र कहा जाता है तथा उनमें उत्पत्तिका कारणभूत कर्म भी उच्चगोत्र है।

षट्खण्डागमकी धवलाटीकाके इस कथनसे यह बात स्पष्ट है कि हमको उच्चगोत्रके विषयमें विशेष जानकारी नहीं है। इसपर भी जन्मसे उच्चगोत्र कहा है तथा कहींपर कर्मसे भी। जैन चक्रवर्तीके संबंधी म्लेच्छखण्डी जो चक्रवर्तीके साथ आर्यखण्डमें आकर दीक्षित हो गये थे वे कर्मसे उच्चगोत्र वाले हैं। बौद्धधर्ममें दीक्षित शूद्र ५० साल पश्चात् उच्चगोत्री नहीं हो सकता। अव्रत रहते हुए गोत्र-परिवर्तन नहीं हो सकता, ऐसा समझमें आता है।"

मैंने जो शंका-समाधानका यह अवतरण यहाँपर दिया है, उसका कारण यह है कि पाठक प्रत्येक बातको ठीक तरहसे समझ सकें। मेरा सामान्यरूपसे ख्याल यह है कि विद्वान वस्तुतत्त्वके निर्णयमें आगमकी अपेक्षा तर्कसे काम लें और उसका आगमके साथ केवल आवश्यक समन्वय मात्रका ध्यान रखें, तो संस्कृति संबंधी बहुत-सी गुत्थियाँ अनायास सुलझ जावेंगी, इस तरह विद्वान् संस्कृति और समाजके महान् उपकारक सिद्ध होंगे।

कर्मसंबंधी गुत्थी भी बड़ी जटिल है। उसके एक अंश गोत्रके विषयमें यहाँपर विचार किया जा रहा है। समयानुसार अन्तराय आदि दूसरे अंशोंपर भी विचार किया जायगा।

गोत्रकर्मपर विचार करनेसे पहले मैं पाठकोंको एक बात सुझाना चाहता हूँ कि फल देनेमें कर्मके लिये नोकर्म सहायता प्रदान करता है। आगममें भी नोकर्मको कर्मका सहायक कर्म माना गया है, इसका अभिप्राय यही है कि कर्म जीवको अपना फल देनेमें नोकर्मके साहाय्यकी अपेक्षा रखता है।

यह बात इतनी स्पष्ट होते हुए भी आधुनिक और बहुतसे भूतकालीन विद्वानोंने इस सिद्धान्तको मान्यता दे रखी है कि कर्म और नोकर्ममें भी कार्य-कारणभाव है अर्थात् जीवको कर्मफल भोगनेमें नोकर्मका

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समागम भी कर्मसे ही प्राप्त होता है। जैसे—साता और असाता वेदनीय कर्मोंका कार्य जीवको क्रमशः साता और असाताका अनुभव कराना है। लेकिन विद्वान् मानते हैं कि साता और असातारूप अनुभवनके अनुकूल साधनोंको जुटाना भी क्रमशः साता और असाता वेदनीय कर्मोंका ही कार्य है।

यहाँपर हमें (विद्वानोंको) कम-से-कम यह तो सोचना चाहिये कि जब साता और असाता वेदनीय कर्म जीवको अपना फल सहायक साधनोंके अभावमें नहीं दे सकते हैं तो फिर सहायक साधनोंको जुटाना साता और असाता वेदनीय कर्मोंका कार्य कैसे माना जा सकता है? कारण कि सहायक साधनोंको जुटाना कर्मका फल मान लेनेसे उक्त मान्यताके अनुसार उसमें भी सहायक साधनोंके समागमकी आवश्यकता उत्पन्न हो जायगी, इस तरह साता और असाता वेदनीय कर्मोंके कार्यमें अनवस्थिति दोषका प्रसंग उपस्थित हो जायगा। इसलिये यही मानना उचित है कि सहायक साधनोंको जुटाना साता और असाता वेदनीय कर्मोंका कार्य नहीं है, बल्कि स्वपुरुषार्थ या परपुरुषार्थसे अथवा अन्य प्रकारसे अनायास ही जीवको जब साता-सामग्री या असाता सामग्री प्राप्त हो जाती है, तब साता और असाता वेदनीय कर्म जीवको अपना फल साता और असाताके रूपमें देने लगते हैं। बस! यही बात उच्चगोत्र और नीचगोत्र कर्मोंके विषयमें भी समझना चाहिये।

तात्पर्य यह है कि उच्चगोत्र और नीचगोत्र कर्मोंका कार्य जीवमें क्रमशः उच्चता और नीचताका व्यवहार कराना है। परन्तु उच्चगोत्र कर्म जीवमें उच्चताका व्यवहार करानेके लिये उसके (जीवके) उच्चकुलमें पैदा होने अथवा उसकी (जीवकी) उच्च आचाररूप प्रवृत्ति होने रूप सहायक साधनोंकी अपेक्षा रखता है। इसी प्रकार नीचगोत्रकर्म जीवमें नीचताका व्यवहार करानेके लिये उसके (जीवके) नीचकुलमें पैदा होने अथवा उसकी (जीवकी) नीच आचाररूप प्रवृत्ति होने रूप सहायक साधनोंकी अपेक्षा रखता है, इसप्रकार जीवका उच्चकुलमें पैदा होना अथवा उसकी उच्च-आचाररूप प्रवृत्ति होना उच्चगोत्रकर्मका तथा जीवका नीच कुलमें पैदा होना अथवा उसकी नीच आचाररूप प्रवृत्ति होना नीचगोत्रकर्मका कार्य कदापि नहीं माना जा सकता है। अन्यथा पूर्वोक्त प्रकारसे अनवस्थिति दोषका प्रसंग साता और असाता वेदनीय कर्मोंकी तरह यहाँपर भी उपस्थित हो जायगा।

इससे यह सिद्ध हो जाता है कि जीवका उच्च या नीच कुलमें पैदा होना अथवा उसकी उच्च या नीच आचारणरूप प्रवृत्ति होना उच्च और नीचगोत्र कर्मोंका कार्य नहीं हैं बल्कि कोई जीव जब उच्चकुलमें पैदा होता है अथवा उच्च आचाररूप प्रवृत्ति करने लगता है तो इनकी सहायतासे उच्चगोत्रकर्म उस जीवमें उच्चताका व्यवहार कराने लगता है। इसी तरह जब कोई जीव नीचकुलमें पैदा हो जाता है अथवा नीच आचार-रूप प्रवृत्ति करने लगता है तब इनकी सहायतासे नीचगोत्रकर्म उस जीवमें नीचताका व्यवहार कराने लगता है।

जीवका उच्चकुलमें पैदा होना अथवा उसकी उच्च आचाररूप प्रवृत्ति होना उच्चगोत्र कर्मके और जीवका नीचकुलमें पैदा होना अथवा उसकी नीच आचाररूप प्रवृत्ति होना नीचगोत्रकर्मके नोकर्म (सहायक कर्म) होनेके कारण ही लोक जीवमें उच्चता और नीचताका व्यवहार जन्मना और कर्मणा दोनों प्रकारसे किया करता है। परन्तु जैन संस्कृति जन्मसे उच्च-नीच व्यवहारको महत्त्व नहीं देती है। वह तो जीवकी उच्च और नीच आचाररूप प्रवृत्तियोंसे ही उसमें (जीवमें) उच्च और नीच व्यवहारकी हामी है। यही कारण है कि जैन संस्कृतिमें गोत्र-परिवर्तनका सिद्धान्त स्वीकार किया गया है और यह बात इसलिये असंगत नहीं मानी जा सकती है कि कन्या जब विवाहित हो जाती है, तो उसका पितृगोत्रसे संबंध विच्छेद होकर पतिगोत्रसे संबन्ध स्थापित हो जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन संस्कृतिमें जीवकी उच्च-नीच आचार-प्रवृत्तियोंके आधारपर ही उसमें (जीवमें) उच्च-नीच व्यवहार माननेका मुख्य कारण यह है कि वहाँपर (जैन संस्कृतिमें) उच्च और नीच सभी प्रकारके कुलोंकी व्यवस्था भी उस-उस प्रकारके उच्च और नीच आचारके आधारपर ही स्वीकार की गयी है। जैसे—चमारके कुलमें उत्पन्न होनेवाला व्यक्ति चमार तो कहलाता है परन्तु वह कुल, जो चमार कहलाता है, उसका मूलकारण यही है कि उस कुलमें चमड़ेका कार्य किया जाता है। इसीप्रकार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्णों तथा सुनार, लुहार, बढ़ई, कुम्हार आदि जातियों (जो कुलके ही नामान्तर हैं) के नामकरण भी मनुष्योंके उस-उस प्रकारके आचारके आधारपर ही स्वीकार किये गये हैं। लोकमें उक्त सभी प्रकारके आचारोंमेंसे जिस-जिस आचारको उच्च माना गया है उसके आधारपर उस कुलको उच्च और जिस-जिस आचारको नीच माना गया है उसके आधारपर उस-उस कुलको नीच मान लिया गया है।

यद्यपि देशविशेष, प्रान्तविशेष, व्यक्तिविशेष आदि दूसरे विविधप्रकारके आधारोंपर भी जातियोंका निर्माण हुआ है। परन्तु जीवोंकी उच्चता और नीचताके व्यवहारमें इनका कुछ भी उपयोग नहीं होता। इसी प्रकार जैन, बौद्ध, वैष्णव, आर्यसमाज, मुसलमान, ईसाई आदि जातियोंका निर्माण उस-उस संस्कृतिकी मान्यताके आधारपर हुआ है। लेकिन इनको भी जीवोंकी उच्चता और नीचताका द्योतक नहीं माना जा सकता है।

प्रायः लोगोंका ख्याल है कि धर्माचरण उच्चताका और अधर्माचरण नीचताका व्यवहार करानेमें कारण है परन्तु उनकी यह धारणा बिल्कुल गलत है, कारण कि लोकव्यवहारमें यह भी देखा जाता है कि अधर्माचरण करनेवाला ब्राह्मण उच्चगोत्री माना जाता है और धर्माचरण करनेवाला शूद्र नीचगोत्री ही माना जाता है। जैन संस्कृतिमें भी मिथ्यादृष्टि जीवोंको भी उच्चगोत्री और देशविरत (पंचम गुणस्थानवर्ती) जीवोंको भी नीचगोत्री स्वीकर किया गया है।

इस तरह यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है कि प्रत्येक जीवके कुलपरंपरागत जीवन-संरक्षणके लिये किये जानेवाले प्रयत्नोंकी उच्चता और नीचताके आधारपर ही उनमें उच्चता और नीचताका व्यवहार करना उचित है।

"संतानकमेणागयजीवायरणस्स गोदमिदि सण्णा।
उच्चं णीचं चरणं उच्चं णीचं हवे गोदं॥"—(गोम्मटसारकर्मकाण्ड)।

यह गाथा भी हमें यही उपदेश देती है कि जीवों द्वारा अपने जीवनसंरक्षण (जीविका)के लिये अपनाया गया जो कुलपरम्परागत पेशा है वही गोत्र है। वह गोत्र (पेशा) उच्च और नीच दो प्रकारका है।

गाथामें गोत्रसम्बन्धी यह वर्णन वास्तवमें मनुष्यजातिको लक्ष्यमें रखकर किया गया है। फिर भी इतना तो निश्चित समझना चाहिये कि गाथाके "जीवाचरण" शब्दका अर्थ जीविका (जीववृत्ति) ही है। इस तरह नारकजातिके जीवोंमें या तो जीवनवृत्तिका सर्वथा अभाव है अथवा उनकी जीववृत्ति कष्टमय है, इस तरह नारकियोंकी जीवनवृत्तिमें नीचताका व्यवहार उपयुक्त होनेके कारण सभी नारकी जीव नीचगोत्री माने गये हैं। तिर्यग्गतिके जीवोंकी जीवनवृत्ति क्रूरता और दीनताको लिये हुए कष्टमय होनेके कारण नीच है, अतः सभी तिर्यंच भी नीचगोत्री माने गये हैं। देवोंकी वृत्तिको सात्विकवृत्ति कहा जा सकता है, अतः सभी देव उच्चगोत्री मान लिये गये हैं। मानववर्गको चार भागोंमें विभक्त किया गया है। उनमेंसे ब्राह्मणोंकी वृत्तिको सात्विक तथा क्षत्रियों और वैश्योंकी वृत्तिको राजस माना गया है। ये दोनों प्रकारकी वृत्तियाँ लोकमें उच्च

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मानी गयी हैं। अतः ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्णके सभी मनुष्य उच्चगोत्री माने गये हैं। शूद्रोंकी वृत्ति दीनवृत्ति होनेके कारण तामसवृत्ति है। लोकमें तामसवृत्ति नीचवृत्ति कही जाती है, अतः सभी शूद्र नीचगोत्री माने गये हैं। इनके अतिरिक्त म्लेच्छवृत्तिको अपनानेवाले भी मनुष्य होते हैं। म्लेच्छवृत्ति भी चूँकि क्रूरवृत्ति होनेके कारण तामसवृत्ति मानी गयी है, अतः म्लेच्छमानव भी नीचगोत्री माने गये हैं। भोगभूमिके तिर्यंच-दीनवृत्तिके कारण नीचगोत्री और भोगभूमिके मनुष्य सात्विकवृत्तिके कारण उच्चगोत्री माने गये हैं। इस तरह मानवजातिमें उच्च और नीच दोनों गोत्रवाले जीवोंका अस्तित्व स्वीकार किया गया है।

जो मनुष्य अपने गार्हस्थ्य जीवनको लाँघकर साधुमार्गको अपना लेते हैं उनकी वृत्ति जैन संस्कृतिके अनुसार सात्विक हो जाती है। अतः साधुओंकी श्रेणीमें पहुँचा हुआ नीचगोत्री मनुष्य भी उस हालतमें उच्चगोत्री हो जाता है। इस तरह शूद्रको नीचगोत्री होनेके कारण दीक्षा लेनेका जो निषेध किया जाता है, वह उचित नहीं है बल्कि यही मानना उचित है कि यदि कोई शूद्र कदाचित् अपने गार्हस्थ्य जीवनको लाँघकर साधुजीवनमें प्रवेश कर जाये, तो उसका नीचगोत्र बदलकर उच्चगोत्र हो जायगा। कारण कि साधुजीवनमें प्रवेश पानेसे उसकी गार्हस्थ्यजीवन सम्बन्धी शूद्रकुलवृत्ति समाप्त होकर साधुजीवन सम्बन्धी सात्विकवृत्ति हो जावेगी। यदि कहा जावे कि कम-से-कम अस्पृश्य शूद्रको तो दीक्षा लेनेका निषेध होना ही चाहिये, तो मैं कहूँगा कि शूद्रोंमें अस्पृश्यता और स्पृश्यताका भेद ब्राह्मण (वैदिक) संस्कृतिकी ही देन है। जैन संस्कृतिमें अस्पृश्यताको कोई स्थान प्राप्त नहीं है।

ऊपरके कथनसे यद्यपि यह बात सिद्ध होती है कि शूद्र बौद्ध संस्कृतिमें दीक्षित होनेपर ५० वर्ष बाद भी उच्चगोत्री नहीं हो सकता है, कारण कि कोई भी संस्कृति गोत्रपरिवर्तनमें कारण नहीं होती है। परन्तु संस्कृति बदले या न बदले, फिर भी यदि कौलिक आचार (जीवनवृत्ति) बदल जाता है तो किसी भी समय शूद्र (नीचगोत्री) उच्चगोत्री और उच्चगोत्री नीचगोत्री हो जायगा। इससे इस बातका भी निषेध हो जाता है कि अव्रत रहते हुए गोत्रपरिवर्तन नहीं हो सकता है। कारण कि धर्म उच्चगोत्रका और अधर्म नीचगोत्रका कारण नहीं है। साधुजीवनको जो गोत्रपरिवर्तनमें कारण माना है वह धार्मिक वृद्धिके कारण नहीं, बल्कि जीवनवृत्ति बदल जानेके कारण ही वहाँ गोत्रपरिवर्तन माना गया है।

उक्त विषयको कर्मसिद्धान्तकी दृष्टिसे भी स्पष्ट कर देना मैं उचित समझता हूँ—आयुकर्मकी सब प्रकृतियोंको छोड़कर शेष सातावेदनीय और असातावेदनीय, उच्चगोत्र और नीचगोत्र तथा चारों गति आदि परस्पर विरोधी जितनी कर्मप्रकृतियाँ हैं उन सबकी प्रत्येक जीवमें अपनी-अपनी सीमा तक एक साथ सत्ता स्वीकार की गयी है। इन प्रकृतियोंके बन्धके विषयमें ऐसा कोई नियम नहीं है कि नीचगोत्री उच्चगोत्रका और उच्चगोत्री नीचगोत्रका बन्ध नहीं करता है बल्कि यहाँ तक संभव है कि कोई जीव प्रथम क्षणमें यदि नीचगोत्रका बन्ध कर रहा हो तो वही जीव द्वितीय क्षणमें उच्चगोत्रका भी बन्ध कर सकता है। यही बात उक्त साता और असाता वेदनीय तथा चारों गति आदि सभी परस्पर विरोधी प्रकृतियोंमें भी लागू होती है। इन सब प्रकृतियोंकी अन्तरालरहित निषेक रचना अपने-अपने अबाधाकालको छोड़कर स्थितिके अनुसार बन्धके साथ हो हो जाया करती है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि जहाँ तक संभव है वहाँ तक एक भी क्षण ऐसा परिलक्षित नहीं होता, जिस क्षणमें परस्पर विरोधी उक्त कर्मप्रकृतियोंके निषेकोंकी सत्ता न पायी जाती हो। प्रत्येक कर्मप्रकृतिके प्रत्येक निषेकका अपने-अपने समयमें खिरनेका नियम है। इस तरह जिस क्षणमें उच्चगोत्रका निषेक खिरता है उसी क्षणमें उसका विरोधी नीचगोत्रका निषेक भी खिरता है। यह खिरना तीन प्रकारसे संभव है—संक्रमण होकर, फल देकर और फल न देकर। संक्रमणका अर्थ यह है कि उच्चगोत्र-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का निषेक कभी-कभी नीचगोत्रका निषेक बनकर खिरता है और इसी तरह नीचगोत्रका निषेक कभी-कभी उच्चगोत्रका निषेक बनकर खिरता है। फल देकर और फल नहीं देकर खिरनेका अर्थ यह है कि यदि खिरते समय उच्चगोत्रके निषेकको नोकर्मकी सहायता प्राप्त हो जाती है तो उच्चगोत्रका निषेक तो फल देकर खिरता है और उस समय नीचगोत्रका निषेक बिना फल दिये ही खिर जाता है। इसी तरह यदि खिरते समय नीचगोत्रके निषेकको नोकर्मकी सहायता प्राप्त हो जाती है तो नीचगोत्रका निषेक तो फल देकर खिरता है और उच्चगोत्रका निषेक बिना फल दिये ही खिर जाता है। यही व्यवस्था साता और असाता आदि परस्पर विरोधी सभी कर्मप्रकृतियोंके निषेकोंके खिरनेमें लागू होती है।

कर्मसिद्धान्तके इस विवेचनसे यह निष्कर्ष निकलता है कि जीवको एक ही भवमें जिस प्रकार अपने-अपने अनुकूल नोकर्मकी सहायतासे कभी सातावेदनीय और कभी असातावेदनीय कर्म अपना फल देते रहते हैं। इसी प्रकार जीवको एक ही भवमें अपने-अपने अनुकूल नोकर्मकी सहायतासे कभी उच्चगोत्र और कभी नीच-गोत्र कर्म भी अपना-अपना फल दे सकते हैं। चूँकि नारकी, तिर्यंच, देव इन तीनों गतियोंमें तथा भोगभूमिमें कहीं उच्चगोत्रका और कहीं नीचगोत्रका ही नोकर्म नियमसे रहता है, अतः नारकियों, तिर्यंचों, देवों और भोगभूमिके तिर्यंचों तथा मनुष्योंका गोत्रपरिवर्तन नहीं होता है। परन्तु कर्मभूमिज मनुष्योंके जीवनमें पूर्वोक्त प्रकार जीवनवृत्ति बदलनेकी संभावनाके आधारपर उच्चगोत्र और नीचगोत्र दोनोंके नोकर्ममें परिवर्तनकी संभावना बनी रहती है, अतः कर्मभूमिज मनुष्योंके गोत्रपरिवर्तन स्वीकार किया गया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org